ISSN 2455-5169

परिवर्तन : साहित्य, संस्कृति एवं सिनेमा की वैचारिकी

धार्मिक पाखंडता की सेज : 'सेज पर संस्कृत'

एन आर सेतु लक्ष्मी

शोधछात्रा
कोच्चिन विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी
विश्वविद्यालय
nrsethu.30@gmail.com

धर्म का मूल लक्ष्य समस्त चरा-चरों का कल्याण है। सत्य, अहिंसा और शांति जैसे तत्व धर्म को गतिशीलता प्रदान करते हैं। 'धर्म' के व्यापक अर्थ में व्यक्ति, समाज और परिवेश आदि का समावेश होता है तो वहीं धर्म के सीमित अर्थ में मनुष्य के करने और न करने योग्य कार्यों का समावेश कर काल विशेष के अनुरूप प्रावधान प्रस्तुत किए जातें हैं। धर्म मनुष्य को उसकी समस्त विकृतियों पर विजय पाने के तरीकों का ज्ञान देता है। अखिलेश मिश्र कहतें हैं "महाभारत में लिखा है कि संक्षेप में धर्म केवल इतना है कि जो व्यवहार में अपने को अच्छा न लगे वह दूसरे के साथ न करें।"[1] भारत में विभिन्न धर्मावलम्बी एक साथ पारस्परिक सौहार्द के साथ वास करतें हैं। धर्मनिरपेक्षता की बुनियादी नीव पर निर्मित भारतीय समाज ने विश्व भर के देशों को अपनी धार्मिक विविधता से आकर्षित किया। भारत के प्रत्येक नागरिक को अपनी इच्छानुसार धर्म चुनने और किसी भी धार्मिक विश्वास का पालन करने की स्वतन्त्रता भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त है। यह भारत के विविध धर्मावलम्बियों के सामंजस्यपूर्ण अस्तित्व की ओर इशारा करता है। सहिष्णुता और अखंडता भारतीय संस्कृति के औज़ार हैं। भारत का प्रत्येक नागरिक अपनी इस धार्मिक बहुलता के प्रति गर्वान्वित महसूस करता है।

वर्तमान भारत की स्थिति कुछ बदल सी गयी है। आज का भारतीय नागरिक धर्म की संकीर्णताओं में जकड़ता जा रहा है। वह धर्म के पाखंडियों के चंगुल में फंस धर्म के वास्तविक मूल्य और लक्ष्य से दूर होता जा रहा है। पहले जहाँ धर्म मनुष्य को मानवता की ओर उन्मुख कर कर्तव्य का संदेश देता था, वहीं आज धर्म तत्कालीन प्रचारकों की आर्थिक उपज का साधन मात्र बनकर रह गया है। आज धर्म रूढ़िग्रस्त हो गया है। धार्मिक ठेकेदार धर्म की मनगढ़ंत व्याख्याओं द्वारा भोली-भाली जनता को अंधविश्वासों में जकड़ रहे हैं। यही कारण है कि आज धर्म के नाम पर मनुष्य हिंसक पशुओं की भांति लड़ रहा है। कई लोग धर्म को उपासना स्थलों से जोड़कर देखतें हैं। वे सोचतें है कि मनुष्य में धर्म का संचार तभी संभव होगा जब उपासना स्थलों की अभिवृद्धि होगी। परंतु वास्तविकता यह नहीं है नरेन्द्र मोहन इस संबंध में लिखतें हैं "धर्म को पुस्तकों से बांधकर, उपदेशों से बांधकर, मंदिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों और

गिरिजाघरों के साथ जोड़कर मनुष्य ने अपने विवेक का जो परित्याग सा कर दिया है उससे अपार क्षति हो रही है। सच बात तो यही है कि धर्म का संबंध उपासना स्थलों से नहीं है। उपासना स्थलों का महत्तव और उपयोग तो केवल मन को अनुशासित करने और शांति बनाने के लिए होना चाहिए।"[2] अतः धर्म को यदि व्यक्ति के कर्मकांड से जोड़कर देखा जाए तो ही उचित होगा।

मधुकंकरिया के उपन्यास 'सेज पर संस्कृत' के अंतर्गत लेखिका ने सांस्कृतिक टकराहटों की कहानी व्यक्त की है। उपन्यास में जैन धर्मावलम्बियों के बीच प्रचलित कुरीतियों एवं धार्मिक रूढ़ियों के साथ-साथ बदलते सामाजिक परिवेश को दर्शाया गया है। उपन्यास की नायिका संघमित्रा के पिता और भाई की मृत्यु के पश्चात माँ पूर्णिमादेवी पूर्णतया टूट जाती है। समाज में अपने और अपनी दो बेटियों के अस्तित्व को लेकर वह बेहद डर से भर जाती है। दिनोदिन स्त्रियों के प्रति बढ़ते दुराचार एवं गिरती आमदनी पूर्णिमा देवी को धर्म की ओर आकर्षित करती है। संघमित्रा माँ को दिलासा देती है कि वह जीवन को पटरी पर ला देगी, बस माँ उसपर थोड़ा भरोसा रखे। लेकिन माँ के सर पर धर्म का भूत सवार हो जाता है और वह धार्मिक नगरी की यात्रा के लिए बेटियों समेत चल पड़ती है। बेमन संघमित्र भी माँ की खुशी के लिए यात्रा में उसका साथ देती है। अपनी तीर्थयात्रा के दौरान संघमित्र का धर्म के कुछ अमानवीय तत्वों से साक्षात्कार होता है, जो उसे भीतर तक दहला देती है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि ये धर्म के प्रचारक धर्म की मनगढ़ंत कहानियां जड़कर धर्म को संकीर्णताओं और रूढ़ियों से भर रहें हैं।

पर्वतारोहण के दौरान संघमित्रा आदिवासियों के समाज और उनके जीवन से वाकिफ होती है। वह देखती है कि मात्र कुछ धनार्जन के लिए इस वर्ग को आठ से बारह घंटे तक काम करना पड़ता है और ये बेहद अमानवीय वातावरण में वास करते हैं। उन्हे अपने जीवन यापन और भोजन के जुगाड़ के लिए बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। संघमित्रा कहती है "हे भगवान यात्रियों से ज़्यादा मंदिर? एक किलो मीटर की रेंज में दो दिनो के लिए आए यात्रियों के लिए बीस मंदिर पर यहाँ के मूल बाशिंदों के लिए एक भी अस्पताल और विद्यालय नहीं? जियो मेरे देश।"[3] लेकिन धर्म गुरु इनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। उनका मानना है कि ये लोग अपनी करनी का ही फल भुगत रहे हैं। संघमित्रा समझ जाती है कि यदि जीवन को सुधारना है तो संघर्ष तो करना ही पड़ेगा। धार्मिक पाखंड का सहारा यदि लिया गया तो और गहरे कीचड़ में धसने के अलावा लाभ कुछ नहीं मिलेगा।

संघमित्रा के पिता नास्तिक थे उन्होने जीवन में संघर्ष और मानवता को ही धर्म का आधार माना। संघमित्रा भी जीवन में इसी तत्व को प्रधानता देती है। वह अपनी बहन को दीक्षा के चंगुल से बचाने की लाख कोशिश करती है लेकिन विफल हो जाती है। संघमितत्रा इस सत्य से वाकिफ होती है कि सन्यास की दुनिया पलायन वादियों और कमज़ोरों की दुनिया है। आश्रम में मौजूद प्रत्येक सन्यासी से वार्तालाप के पश्चात वह समझ जाती है कि कोई रोटी प्राप्त करने के लिए यहाँ आया, तो कोई प्रसव और बिछुड़न जैसी वेदनाओं से बचने के लिए, तो किसी ने सामाजिक भय से संरक्षण पाने के लिए धर्म का दामन थामा। आश्रम पहुँच कर जाना था संघमित्रा ने कितना महंगा है धर्म "परत दर परत खुलती जा रही है यह श्वेत दुनिया। पहली पार्ट में धर्म और वैभव का चोली दामन का साथ देखकर चक्करा गयी वह।"[4] वह समझ जाती है कि धर्म को सेफ़्टी वॉल्व की तरह प्रयोग किया जा रहा है। छुटकी को न बचा पाने के दुख में संघमित्रा सांसरिक सन्यासी का जीवन जीती है। वह जीवन में संघर्ष कर ऊंचे औहदे पर पहुँच जाती है और 'नारी शक्ति संघ' के माध्यम से प्रवर्तन करती रहती है। बीस साल बाद छुटकी उसके जीवन में जब वापिस आती है तब वह योगिनी छुटकी न होकर वेश्या छुटकी बन चुकी होती है। अपनी दीक्षा के दिनो में छुटकी सोचती है कि दीक्षा लेना कितनी इज्जत की बात है न कोई डांटता, न ही पढ़ाई करनी पड़ती है ऊपर से बड़े से बड़े लोग हमारे सामने आकर शीश नवातें है। लेकिन आज बीस साल बाद वह अपनी बहन से कहती है "कितनी कमजोर थी वह दुनिया जिसकी नीव हिल गयी अजन्मे गर्भ के चलते।"[5] छुटकी के माध्यम से उपन्यास में धर्माश्रमों में हो रहे स्त्री शोषण को लेखिका ने उजागृत किया है। अभय मुनि जैसे पाखंडी बाबा धर्म का कवच धारण कर अनैतिक प्रवृतियों को अंजाम देतें है। मनुष्य के जीवन में अंधविश्वासों ने मानवता से भी ऊंचा स्थान ले लिया है। संघमित्रा कहती है "महावीर के लिए जंगल प्रयोगशाला थी। वे जंगल में ही समाधि लगाते थे। इसी दौरान विचारों की अलख उनके भीतर अग्नि की तरह जलती थी। इसी गहन समाधि में कपड़े कहाँ गए... भूख प्यास कब मरी। उन्हे उनका भान तक नहीं हुआ होगा पर शताब्दियां की ओढनी ओढ़े इन धर्मगुरुओं ने इसी वस्त्र हीनता और अहरहिनता को धर्म बना दिया।"[6] जीवहत्या के पाप से बचने के लिये तरह-तरह के उपमान तलाशे जा रहें हैं लेकिन आंखों के समक्ष भूखमरी और बेरोजगारी से मरते मनुष्यों को पापियों का दर्जा इन्ही धर्म के ठेकेदारों की देन है।

उपन्यास में लेखिका ने धर्म की उपज और उसके आज के प्रत्यक्ष स्वरूप में अवतरण का कारण मनुष्य के भीतर मौजूद भय को ठहरया है। "पाँच हज़ार वर्षों पूर्व इंसान कि ज़िंदगी में न धर्म था, न ईश्वर। पहले पहल धर्म ने अपनी आँख तब खोली, जब इंसान के भीतर डर ने जन्म लिया। प्रकृति की

विनाशकरी शक्तियों ने उसे भयभीत कराया और कल्याणकारी शक्तियों ने उसे प्रकृति के प्रति कृतज्ञ बनाया.... इन शक्तियों से डरकर उसने सूर्य, जल, पवन, पृथ्वी और वनस्पति आदि को देवता स्वरूप माना और उनकी कृपा प्राप्त होती रहे इसलिए उनके लिए प्रार्थनाएँ और स्तुतियाँ रची। बाद में इन्ही प्रार्थनाओं और स्तुतियों को सम्पन्न करने के लिए पुरोहित वर्ग अस्तित्व में आया।"[7] सभ्यता के युग में प्रवेश करते-करते ईश्वर ने मनुष्य का रूप धारण करना आरंभ कर दिया, फिर मनुष्य के जीवन को अनुशीलित करने के उद्देश्य से आचार संहिताओं का निर्माण हुआ। "समाज में व्याप्त कुरीतियों, अन्याय, अराजकता, एवं शोषण के विरुद्ध धर्म का जन्म हुआ। पर जिस प्रकार गंगा अपने उद्गम में निर्मल, पवित्र एवं पारदर्शी होती है, पर धीरे-धीरे वह प्रदूषित होती जाती है, वैसे ही कालांतर में सारे धर्म उन्हीं बुराइयों के शिकार हुए जिनके उन्मूलन के लिए उनका जन्म हुआ था।"[8] सभी धर्मों की अवस्था यही है, धर्म के ठेकेदार धर्म की बनी बनाई व्याख्याएँ कर, साधारण जनता के डर का नाजायज़ फायदा उठा कर उन्हें धार्मिक संकीर्णताओं में जकड़े रखते हैं। प्रसिद्ध लेखक अवतार सिंह 'पाश' ने वर्तमान समय को सबसे खतरनाक समय कहा है। क्योंकि आज हमारे सपने मर गए हैं। हमारे सपनों को धार्मिक भय मार रहा है और धार्मिक ठेकेदार इस भय को पुष्ट कर रहें हैं।

पिछले कुछ वर्षों से धार्मिक अंधविश्वासों में जो बढ़ोत्तरी हुई वह इन पाखंडी धर्म प्रचारकों की ही दैन है। "गीतेश शर्मा लिखतें हैं पिछले 15-20 वर्षों में धर्म के प्रति लोगों का रुझान और अनुराग बड़ी तेज़ी से बढ़ा है। धार्मिक उत्सव भजन कीर्तन प्रवचन एवं धार्मिक पुस्तकों के प्रकाशन में बेशुमार वृद्धि हुई है। दुर्गा पूजा, गणेश चतुर्थी, गुरुओं की शहीदी दिवस, जयंतियाँ, ईद, बकरीद, मोहर्रम के त्योहार बड़े जोशो खरोश, ताम-झाम के साथ बड़े व्यापक पैमाने पर मनाए जा रहें हैं।"[9] धर्म का वास्तविक अर्थ मानव के कर्तव्य से जुड़ा है तो उसका लक्ष्य मानवता का पोषण करना है। उपन्यास के अंत में अभय मुनि की हत्या के पश्चात संघमित्रा आत्म-समर्पण कर देती है। वह चाहे तो भाग सकती थी लेकिन वह नहीं भागी "हाँ, मै भाग सकती थी, शायद अपनी जान भी बचा लेती, पर भागने से दुनिया नहीं बदलती जज साहब, दुनिया बदलती है, दुनिया की गंदगी साफ करने से, अपने हाथ गंदे करने से। मैं इस घटना को... इस सत्य को भविष्य और इतिहास को सौपना चाहती थी।"[10] मुनि की संस्कृत आत्मा जो मच्छर तो क्या सूक्ष्म जीवाणु को भी महत्व देती है, वह आज समाज को दूषित कर रही है । जब तक समाज में इनका बोलबाला रहेगा तब तक मनुष्य की हर पीढ़ी इसी तरह धर्म के बनावटी अंधेरी गलियों में चक्कर खाती रहेगी।

मधु कंकरिया के प्रस्तुत उपन्यास में धार्मिक कुरीतियों के साथ साथ छूटते संबंध और परिवेश का बखूबी चित्रण किया गया है। समाज की इस अवस्था का अंत तभी होगा जब मनुष्य धर्म के वास्तविक अर्थ और लक्ष्य से अवगत हो समस्त जीव जंतुओं का आदर करेगा।

संदर्भ :

1. अखिलेश मिश्र : धर्म का मर्म : पृ -388
2. नरेन्द्र मोह : धर्म और सांप्रदायिकता : पृ -151
3. मधु कांकरिया : सेज पर संस्कृत : पृ-19
4. वही : पृ-92
5. वही : पृ-211
6. वही : पृ-29
7. वही : पृ-137
8. वही : पृ-138
9. गीतेश शर्मा :धर्म के नाम पर : पृ-230
10. मधु कांकरिया : सेज पर संस्कृत : पृ-226